प्रारंभिक पाठमाला

अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिंतन

सहज

मध्यस्थ दर्शन (सहअस्तित्ववाद)

- ए. नागराज (प्रणेता एवं लेखक)

मध्यस्थ दर्शन सहज 'प्रवेश' पुस्तक

1. जीवन विद्या एक परिचय (प्रकाशित पुस्तक)
2. सहअस्तित्ववाद एक परिचय (संकलन) {PDF}
3. प्रारंभिक पाठमाला {PDF}
4. सत्संग (2005 प्रतिलेखन) {PDF}
5. मध्यस्थ दर्शन एक परिचय (1999 प्रतिलेखन) {PDF}
6. सहअस्तित्ववादी विज्ञान (1999 प्रतिलेखन) {PDF}
7. मूल तत्व अवलोकन (संकलन) {PDF}

PDF Download Link : dub.sh/parichay

प्रकाशक :

जीवन विद्या प्रकाशन, दिव्यपथ संस्थान

अमरकंटक, जिला - अनूपपुर (म.प्र.), भारत, 484886

www.divya-path.org

प्रणेता एवं लेखक :

ए. नागराज

सर्वाधिकार दिव्यपथ संस्थान के पास सुरक्षित

संस्करण: e-book PDF: 14 जनवरी 2026

प्रामाणिक वेबसाइट : www.madhyasth.org

प्रकाशित पुस्तक प्राप्ति : purchase.madhyasth.org; books@divya-path.org

सदुपयोग नीतिः

यह प्रकाशन 'सर्वशुभ' के अर्थ में है और इसका कोई व्यापारिक उद्देश्य नहीं है। इसका उपयोग एवं नकल, निजी अध्ययन के लिए उपलब्ध है। इसके अलावा किसी भी अर्थ में प्रयोग (नकल, मुद्रण, आदि) करने के लिए 'दिव्यपथ संस्थान', अमरकंटक, जिला अनुपपुर (म.प्र.) भारत - 484886 से पूर्व में लिखित अनुमति लेना अनिवार्य है। यह अपेक्षित है की इन अवधारणाओं को दूसरी जगह प्रयोग करते समय इस ग्रंथ का पूर्ण उद्धरण (संदर्भ) दिया जाएगा। कृपया दर्शन की पवित्रता बनाये रखें।

इस संकलन के बारे

यह पुस्तक/संकलन श्रद्धेय नागराजजी के अप्रकाशित लेखों से है।

पाठकों को ध्यानाकर्षण है कि पढ़ते समय अर्थ पर संदेह होने पर प्रकाशित ग्रंथों को माना जाए।

मूल पाण्डुलिपि प्रति का लिंक

जिम्मेदारियाँ :

टाइपिंग एवं जांचः वंदना सिंघल, संदीप भाटिया,गुंजन परमार, अमरेश, रचना सुधीर

स्कैनिंग एवं वर्गीकरणः श्रीराम नरसिम्हन

सुधार संपर्कः books@divya-path.org

अनुक्रमणिका

प्रस्तावना 7

1. राष्ट्रीय चरित्रः विगत का अवलोकन तथा विकल्प की आवश्यकता 7

2. प्राचीन ज्ञान-विज्ञान मध्यस्थ दर्शन, सह-अस्तित्ववाद व जीवन विद्या 13

3. सही बात को समझना 16

मानव 20

1. मानव जीवन एवं जीवनी-क्रम 20

2. मानव में सत्य की खोज क्यों? 24

3. बुद्धिजीवी मानव के प्रति प्रार्थना 26

4. परिवार मानवः एक आवश्यकता (क्र.१) 29

5. परिवार मानवः एक आवश्यकता (क्र.२) 32

मध्यस्थ दर्शन 35

1. मध्यस्थ दर्शन (क्र.१) 35

2. मध्यस्थ दर्शन (क्र.२) 38

3. मध्यस्थ दर्शन (क्र.३) 40

4. मध्यस्थ दर्शन (क्र. ४) 43

5. मध्यस्थ दर्शन (क्र. ५) 44

6. मध्यस्थ दर्शन (क्र. ६) 49

7. मध्यस्थ दर्शन (क्र. ७): 'चैतन्य प्रकृति का रहस्य उद्घाटन' 52

7. मध्यस्थ दर्शन (क्र. ७) : दर्शन की महत्ता 56

जीवन विद्या 62

1. जीवन विद्या (क्र. १) 62

2. जीवन विद्या (क्र. २) 64

3. जीवन विद्या (क्र. ३) 67

4. जीवन विद्या (क्र. ४) 73

5. जीवन विद्या (क्र. ५) 74

6. जीवन विद्या (क्र. ६) 77

7. जीवन विद्या (क्र. ७) 81

8. जीवन विद्या (क्र. ८) 86

9. जीवन विद्या (क्र. ९) 90

10. जीवन विद्या (क्र. १०) 91

11. जीवन विद्या (क्र. ११) 92

12. जीवन विद्या (क्र. १२) 95

प्रस्तावना

1. राष्ट्रीय चरित्रः विगत का अवलोकन तथा विकल्प की आवश्यकता

विगत का अवलोकन

1. सुदूर विगत से आज पर्यन्त विभिन्न संस्कृतियां एवं सामाजिक व्यवस्थाएँ अपनी-अपनी भौगोलिक परिस्थितियों के आधार पर निर्मित हुई और मौलिक रुप में भौतिक एवं अधिभौतिक चिंतन पर आधारित रही है। इसी चिंतन के आधार पर उनकी धार्मिक, आर्थिक एवं राजनैतिक प्रणालियाँ निर्मित एवं विकसित हुई। वर्तमान में अपने समस्त साधनों से सम्पन्न होकर ये संस्कृतियाँ अथवा सामाजिक व्यवस्थाएँ परस्पर सम्पर्क में आई। परिणाम स्वरुप प्रत्येक संस्कृति एवं व्यवस्था की अपनी श्रेष्ठता एवं उपादेयता के प्रतिस्थापन-क्रम में पारस्परिक संघर्ष पूर्वक दलन, दमन एवं शोषण की कूटनीति को वर्तमान राजनीति का रुप समझा जा रहा है। यही अंतर्द्वंद्व अथवा अंतर्विरोध भयंकर उथल-पुथल एवं तृतीय विश्वयुद्ध की संभावनाओं से गर्भित है।
2. युद्ध अथवा युद्ध की मानसिकता मानव विकास के लिये कभी भी सहायक सिद्ध नहीं हुई है। इससे जन-समूह भयाक्रांत होकर व्यक्ति केन्द्रित अथवा व्यक्तिपरक विचारों में सीमित साथ ही सामाजिकता के चिंतन से विमुख होता गया जबकि सामाजिकता ही निर्भयता अथवा निर्भयता ही सामाजिकता है।
3. अतीत में धर्मप्रधान एवं अर्थप्रधान राजनैतिक व्यवस्थाओं के प्रयोग अपनाये गये थे। धर्मप्रधान राजनीति के मूल में पाप-पुण्य तथा स्वर्ग-नरक के भय एवं प्रलोभन मुख्य तत्व रहे हैं। इसी प्रकार अर्थप्रधान राजनीति पूंजीवादी एवं साम्यवादी व्यवस्था प्रणाली से प्रभावशील हुई। इन दोनों के लक्ष्य वर्ग एवं अतिभोग अथवा बहुभोग ही रहे हैं।
4. इस प्रकार अतीत के भय और प्रलोभन के रहस्य पर आधारित धर्म प्रधान व्यवस्थायें न तो मानव को निर्भ्रम व निर्भ्रांत बना सकी और न उसे समृद्धि, समाधान एवं सुख की निरन्तरता ही प्रदान कर सकी। अतिभोग एवं बहुभोग वाली अर्थ प्रधान व्यवस्थायें भी मानव को जीवन मूल्य एवं समाज मूल्य से समृद्धि नहीं बना सकी । फलतः सशंकता, भय, निराशा एवं कुण्ठा की अभिवृद्धि हुई।
5. भौतिकवादी व्यवस्था की असफलता
   क) अनेक सम्प्रदाय, वर्ग, जाति, मत आदि के आधार पर स्थापित समझौतावादी वर्ग भावना से सम्बद्ध समाज कहलाने वाली इकाईयां मानव के लिए समाधान, समृद्धि, अभय एवं सहअस्तित्वपूर्ण सार्वभौमिक सामाजिकता राष्ट्रीयता को विकसित करने में समर्थ नहीं रहीं। फलस्वरुप प्रत्येक देश असमाधान, संशकता, भय एवं सह अस्तित्व विहीनतावश दिग्भ्रमित होकर सम्पूर्ण मानव के विनाश हेतु शस्त्र भंडार या निर्माण करने के लिये हठ एवं होड़ सहित प्रयास रत है। वर्तमान में प्रधानतः युद्ध निपुणतापूर्ण युद्ध सामग्रियों के निर्माण एवं संग्रह करने में जो देश समृद्ध है उसी देश को मनुष्य ने विकसित देश कहा। क्या

स्वविध्वंस क्षमता विकास की कसौटी मानी जा सकती है? क्या यह क्रूरता का द्योतक नहीं है? क्या क्रूरता, अखंड सामाजिकता राष्ट्रीयता हो सकती है? क्या यह दानवीयता नहीं है? क्या दानवीयता ही विकास है? यह सब प्रश्न अपने आप उभर कर आते हैं। साथ यह बात भी स्मरण में आती है कि क्या राष्ट्र व राज्य के विकास एवं विकासशीलता की सम्पत्ति, सामग्री, उद्देश्य एवं आदर्श क्रूरता हो सकती है? यदि हां तब उसके साथ और दो तत्व हीनता एवं दीनता अवश्यंभावी हैं हीनता का तात्पर्य विश्वासघात से एवं दीनता का तात्पर्य अभाव एवं अक्षमता से है। यदि हीनता, दीनता एवं क्रूरता राज्य एवं राष्ट्र की मानसिकता होती तो क्या सामाजिक व्यवस्था एवं उसके कार्यक्रम कभी सफल हो सकते हैं? इन तमाम प्रश्नों के उत्तर में प्रत्येक सामान्य व्यक्ति का उत्तर नकारात्मक ही होगा। ऐसी स्थिति में सामाजिकता का क्या आधार रहेगा? मानव की मानसिकता ही उसके निर्माण का मूल आधार होती है। यदि किसी मानव या राष्ट्र की मानसिकता के मूल में छल, कपट, दम्भ, पाखंड, द्रोह-विद्रोह, वध-विध्वंस अथवा स्वयं के लिये अति भोग या बहुभोग रहा हो तो उस राष्ट्र या सनाज का अंतिम परिणाम स्वयं या अन्य के लिये क्लेश शृंखला के अलावा और क्या हो सकता है? यह सत्र भौतिकवादी अर्थप्रधान चिन्तन एवं व्यवस्था का अब तक का परिणाम रहा है।

ख) भौतिकवादी अथवा भोग-परक चिन्तन प्रकृति के विकास क्रम को मानते हुए गठनपूर्णता, किया पूर्णता एवं आचरणपूर्णता अर्थात चैतन्य प्रकृति के सम्यक अध्ययन की मानसिकता निर्मित करने में समर्थ नहीं रहा है। जिसके फलस्वरुप समाज मूल्य एवं जीवन मूल्य का समुचित अध्ययन नहीं हो पाया है। इसी सत्यतावश ननुष्य को जड़ प्रकृति अर्थात् रासायनिक अथवा भौतिक परिणाम एवं परिवर्तन की सीमा में विश्लेषण करते हुए यांत्रिक जीवन के लिये बाध्य किया है। मनुष्य का स्वभाव से ही संवेदन एवं संज्ञानशील होने के कारण यंत्रवत जीवन तक सीमित रह सकना संभव नहीं हो रहा है और उस घुटन से बाहर निकलने के लिये छटपटा रहा है। साथ ही स्वस्थ दिशा व मार्ग के लिये प्रतीक्षारत है।

ग) अधि भौतिकवादी (धर्मप्रधान) व्यवस्था की असफलता-अधिभौतिकवादी धर्म प्रधान चिन्तन व व्यवस्था ने रहस्य पर आधारित पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक एवं मोक्षवादी प्रलोभन या भय की मानसिकता को निर्मित किया। साथ ही मोक्ष या निवृत्तिवादी मानसिकता के अतिरिक्त स्वर्ग व पुण्य के फल में भोग प्राप्ति का प्रलोभन अथवा उसके विनरीत में भोग के अभाव होने के साथ प्रताड़न-भय की मानसिकता को निर्मित किया। इतना ही न होकर अर्थात् उच्चांग स्थितियाँ अर्थात मोक्ष कैवल्य, सहज-अवस्था एवं साक्षात्कार के लिये भी रहस्य का आवरण बना ही रहा। इसी रहस्यमयता-वश अधिभौतिक या धर्म प्रधान व्यवस्था के अन्तर्गत निर्मित मानसिकता के अन्तर्गत आने वाले मानव समाज में आत्म निर्भरता के स्थान पर एक सर्वशक्तिमान रहस्यमय इकाई पर पराश्रित रहने की मानसिकता को तैयार किया। इसी पराधयी भावना या मानसिकता ने मानव को परम्परा का दास बनाया एवं इसके कारण पुरुषार्थ तथा स्वअस्तित्व के प्रति गौरवपूर्वक साहसिकता विकसित नहीं होने पाई। इस प्रकार अधिभौतिकवादी या धर्मप्रधान चिन्तन प्रकृति के विकासक्रम में मानव जीवन, जीवनी क्रम एवं जीवन के कार्यक्रम को विश्लेषण पूर्वक विकसित करने में समर्थ नहीं रहा है।

घ) विकल्प की आवश्यकता ५-IV इन ऐतिहासिक प्रयोगों एवं उनके परिणामों से स्पष्ट होता है कि धर्म एवं अर्थपरक चिन्तनों पर आधारित व्यवस्थायें मानव समाज पर प्रयोग के द्वारा व्यर्थ सिद्ध हो चुकी हैं। अस्तु विकल्प के रूप में एक स्वस्थ सामाजिक व्यवस्था की अनिवार्यता की अनुभूति वर्तमान विश्व-समाज को हो रही है जिसमें समाधान, सद्धि, अभय एवं सह-अस्तित्व सर्व सुलभ हो सके। ऐसी व्यवस्था मानवीयता पूर्ण सह अस्तित्ववादी चिंतन पर आधारित होगी जिसके लिये जड़ व चैतन्य प्रकृति की क्रियाशीलता का अध्ययन एक अनिवार्य तथ्य है। क्योंकि मनुष्य जड़ व चैतन्य का संयुक्त साकार रुप है।

6. चैतन्य प्रकृति की विशेषता :

क) चैतन्य पद, प्रकृति के विकासक्रम में पाया जाने वाले एक तथ्य है। जड़ प्रकृति का परमाणु ही विकास पूर्वक अथवा गठनपूर्णता पूर्वक चैतन्य पद अथवा जीवन पद को पाता है। फलतः अमरत्व सिद्ध होता है। साथ ही अक्षय शक्ति सम्पन्न होता है। इस प्रकार जीवनता एकअनुस्यूत प्रक्रिया सिद्ध होती है। इससे स्पष्ट होता है कि जीवन नित्य जन्म-मृत्यु घटना मात्र है। इसी चैतन्य जीवन के क्रम में जीवन का समस्त कार्यक्रम समाया है। जीवन एवं जीवन के कार्य-क्रम के ज्ञापन, प्रकाशन, व्यवहार एवं संस्कार की प्रक्रिया ही संस्कृति या सभ्यता है। अस्तित्वपूर्वक जन्म द्वारा जीवन ही जीवात्मा एवं ज्ञानात्मा के पद या रुप में प्रकाशित है। जीवन की निरन्तरता जन्म घटना का मूल कारण है। जीवन के अभाव में जन्म का होना नहीं पाया जाता है। जीवन पद प्रतिष्ठा परमाणु में गठन पूर्णता से विकसित होती है। गठनपूर्णता का तात्पर्य परमाणु में समाने योग्य सभी अंशो के समा जाने से है यह घटना परमाणु के स्वभाव गति तथा वातावरण के दबाव व देय के योगफल में होती है। प्रत्येक इकाई के लिये स्वभाव गति प्रतिष्ठा में ही उसके विकास की संभावना अत्यंत, सन्निहित या उदित होती है। इसी क्रमिक विकास में जड़ चैतन्यात्मक प्रकृति प्रकट है। जड़ प्रकृति के परमाणु में प्रस्थापन, विस्थापन के साथ रुप और गुणो में परिवर्तन होता है जिसका परिमाणित होना पाया जाता है।

ख) इससे स्पष्ट होता है कि जड़ प्रकृति में मात्रात्मक परिवर्तन के साथ गुणात्मक परिवर्तन होता है जबकि चैतन्य प्रकृति में केवल गुणात्मक परिवर्तन का क्रम पाया जाता है जिसका परिमाण नहीं होता है जैसे- आशा, विचार एवं संकल्प में परिवर्तन के साथ कोई मात्रात्मक परिवर्तन नहीं होता है जो बच्चों से बड़ों तक में देखा जा सकता है। भ्रम का ज्ञान होने एवं उसका सुधार करने का ज्ञान व अधिकार गुणात्मक परिवर्तन है जो मानव के लिये एक सहज संभावना है। इसे मनुष्य के लिये सहज, सुलभ व सार्थक बनाने की दिशा में मनुष्य अध्ययन, अध्यापन, प्रयोग, संयोजन, योजन, संधान एवं अनुसंधान कार्य में रत है। इस क्रम में मनुष्य अस्तित्व प्रतिष्ठा से व्यवहार प्रतिष्ठा तक विधिवत अध्ययन करना चाहता है। विधिवत अध्ययन का तात्पर्य वस्तु स्थिति, वस्तुगत एवं स्थित सत्य में निर्भ्रमता के रूप में स्पष्ट है।

ग) वस्तुस्थिति सत्य – देश, काल एव दिशा के ज्ञान में चरितार्थ होता है।

घ) वस्तुगत सत्य – रूप, गुण, स्वभाव एवं धर्म के ज्ञान में होता है।

ङ) स्थिति सत्य सत्ता – में सम्पृक्त प्रकृति (अस्तित्व समग्र) के ज्ञान में होता है।

च) चैतन्य इकाई में आशा, विचार, इच्छा, संकल्प एवं अनुभूति का प्रकाशन शरीर के द्वारा होता है जिसे प्रत्येक जीव शरीर के द्वारा आशा और मनुष्य शरीर के माध्यम से आशा, विचार, इच्छा, संकल्प एवं अनुभूति को देखा जाता है। चैतन्य क्रिया अर्थात जीवन अक्षय शक्ति सम्पन्न होने के कारण उपभोग से अधिक उत्पादन करने में सक्षम है। इसी सक्षमतावश चैतन्य क्रिया या जीवन में आशा, विचार इच्छा, संकल्प एवं अनुभव शक्तियों का प्रकाशन कितना भी करें उससे चैतन्य क्रिया या जीवन में कोई छरण नहीं होता है। यह उसकी अक्षय शक्ति का प्रधान लक्षण है। चैतन्य इकाई या जीवन की अक्षय शक्ति सम्पन्नता के कारण जीवनीयता प्रतिष्ठित या प्रकाशित होती है। यही संवेदनशीलता तथा संज्ञानीयता है। इसी प्रतिष्ठावश वातावरणस्थ क्रिया व सत्यता के संकेत ग्रहण व प्रसारण की क्रिया होती है। इस प्रकार चैतन्य क्रिया ही जीवन है और अक्षयता ही इसकी प्रथान विशेषता है।

छ) उपरोक्त विशेषतावश चैतन्य इकाई में गुणात्मक परिवर्तन के साथ मात्रात्मक परिवर्तन नहीं होता है। चैतन्य इकाई में गुणात्मक परिवर्तन के साथ यदि मात्रात्मक परिवर्तन होता तब प्रत्येक आशा, विचार, इच्छा, संकल्प एवं अनुभूति के साथ मात्रात्मक एवं रूपात्मक परिवर्तन भी होता जबकि ऐसा नहीं होता है। इसके विपरीत विचारों के अनुरूप बिना किसी रूपात्मक या मात्रात्मक परिवर्तन के शरीर का संचालन होता रहता है। चैतन्य के सहयोग से जड़ शरीर जितनी शक्ति ग्रहण करता है उससे कहीं अधिक शक्ति को बहिर्गत करता है। चैतन्य क्रिया अथवा जीवन के अतिरिक्त स्थूल शरीर रासायनिक एवं भौतिक संरचना है। इसके सम्पूर्ण क्रियाकलाप यांत्रिक हैं। यांत्रिकता में जितनी शक्ति ग्रहण होती है उससे कम का प्रकरन होता है। इन तथ्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुष्य जड़ शरीर और चैतन्य क्रिया (जीवन) का संयुक्त साकार रुप है। मानव के संस्कार मात्र का जीवनगत होना अर्थात आशा, विचार, इच्छा, एवं संकल्प गत होना उसी के आनुषंगिक क्रान्तिकारिता (गुणात्मक विकास) एवं जनवादिता का होना एक वस्तुगत सत्य के रुप में पाया जाता है जिसके आधार पर विकास एवं ह्रास स्पष्ट होता है। मनुष्य का प्रकाशन अमानवीयता, मानवीयता और अतिमानवीयता वादी कार्य, व्यवहार, व्यवसाय, अध्ययन एवं व्यवस्था संबंधी प्रक्रियाओं के रुप में होता है। मनुष्य की स्वभाव गति मानवीय होने के कारण उसकी तुलना में ह्रास एवं विकास का निर्णय हो पाता है।

ज) नियतिक्रम में विकास का अभाव नहीं है। यह प्रकृति में विधिवता के रुप में दृष्टव्य है। यह विकास विविधता इस पृथ्वी पर चार स्थितियों में अर्थात पदार्थावस्था, प्राणावस्था, जीवावस्था एवं ज्ञानावस्था में परिलक्षित होती है। यही वैविध्यता विकास क्रम प्रक्रिया एवं व्यवस्था को स्पष्ट करती है। इन सब का अध्ययन ही दार्शनिकता है।

7.

1. दार्शनिकता मनुष्य की संवेदनशीलता एवं संज्ञानीयता का अध्ययन एवं प्रकाशन है। यह मनुष्य की अविभाज्य क्षमता है। दर्शनक्षता अस्तित्व में, अस्तित्व से एवं अस्तित्व के लिये समाधान एवं आनन्द के अर्थ में चरितार्थ होती है। अस्तित्व समग्र सत्ता में सम्पृक्त प्रकृति है। प्रकृति का तात्पर्य रुपात्मक अस्तित्व से है। यही अनेक रुप में स्पष्ट है। अनेकरूपता अथवा वैविध्यता मूलतः अध्ययन का विषय है।

अरुपात्मक अस्तित्व समान रुप में अर्थात सर्वत्र एक सा होना पाया जाता है। सम्पूर्ण गति एवं मात्रा रुपात्मक अस्तित्व की सीमा में दृष्टव्य है। सम्पूर्ण गति व मात्रा अरुपात्मक अस्तित्व में समाहित है। प्रकृति की वृहद से वृहद एवं सूक्ष्म से सूक्ष्म इकाइयाँ गति व मात्रा रहित अस्तित्व में घिरी हुई हैं जो मध्यस्थ सत्ता, शून्य, ज्ञान, पूर्ण एवं परमात्मा आदि संज्ञा से अभिहित है। मूलतः रुपात्मक एवं अरुपात्मक अस्तित्व ही अस्तित्व समग्र है।

2. अस्तित्व स्वयं में कोई संख्या नहीं है। यह केवल अनंत एवं व्यापक है। कारण गुण एवं गणित से मनुष्य के द्वारा प्रत्येक स्थिति निर्णित होती है जबकि अस्तित्व के संबंध में उसकी विस्तार व्याप्ति सीमाएँ संख्या ग्राह्य न होने के कारण इसे केवल व्यापक एवं अनंत की संज्ञा दी गई है। अस्तित्व कैसा है? यह स्पष्ट होता है। कितना है? यह स्पष्ट नहीं होता। इसका मूल कारण यह है कि मनुष्य में अस्तित्व सर्वस्व की आवश्यकता सिद्ध नहीं हो पाती है। फलतः उसके लिये प्रयास नहीं होता है. साथ ही मनुष्य के लिये अनुभव से अधिक उदय होता है। अर्थात् अनुभव के आधार पर अधिक का अनुमान होता है। मनुष्य में, मनुष्य से एवं मनुष्य के लिये अनुभव ही प्रमाण परम है। प्रयोग व व्यवहार के मूल में भी अनुभव ही है।

8. रुपात्मक अस्तित्व अनेक इकाइयों का समूह है। प्रत्येक इकाई का विभिन्न स्तरीय विकास अपेक्षाकृत अस्तित्व है। यही स्पष्टतः संख्या एवं संख्या का आधार है। विकास के क्रम में मनुष्य का अस्तित्व भी एक घटना है। प्रत्येक घटना में अपनी विशेषताएं होती हैं। इसी तारतम्य में मनुष्य में अपनी विशेषता के अनुसार अर्थात ज्ञानावस्था के विकास के अनुरुप पूर्णतया दर्शनक्षमता की संभावना है। इसी के आधार पर अर्थ का सदुपयोग एवं सुरक्षा का अधिकार मानव में, मानव से, एवं मानव के लिये सुरक्षित है। संभावनाओं को सफल बनाना ही अधिकार है।

9. मानवीयता मनुष्य की स्वभावगति है। स्वभावगति में उसके गुणात्मक परिवर्तन का अधिकार व निरन्तरता स्पष्ट होती है। अग्रिम विकास तब तक होता रहता है जब तक मनुष्य इकाई को सत्ता में अनुभव न हो जाय। यही विकासपूर्णता है। यही समाधान एवं समाधान ही निरन्तरता है। स्वभावगति में हस्तक्षेप से काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद एवं मात्सर्य उत्पन्न होता है, जो आवेशित गति है। आवेशित गति को सामान्य बनाने के लिये वातावरण का दबाव ही अनुशासन, सामान्य गति को बनाये रखना ही शासन एवं उसकी निरन्तरता ही प्रभुसत्ता अथवा प्रबुद्धतापूर्ण सत्ता है। यही निपुणता, कुशलता एवं पांडित्यपूर्ण संस्कृति, सभ्यता, विधि एवं व्यवस्था है। पांडित्य स्वयं में विधि है जिसके आधार पर नीति, कार्य पद्धति एवं विषय वस्तु का निर्धारण एवं निस्सरण होता है। न्यायान्याय, धर्माधर्म, सत्यासत्य का ज्ञान ही पांडित्य है। पांडित्य मनुष्य के कार्य व्यवहार, आचरण, अभ्यास एवं विकास का मूल स्त्रोत एवं लक्ष्य है। कुशलता एवं निपुर्णता, शिष्टता एवं व्यवसाय के आधार एवं समृद्धि के लक्ष्य है। पांडित्य के अभाव में कुशलता एवं निपुणता की उपयोगिता का ध्रुवीकरण नहीं हो पाता है। निपुणता एवं कुशलता का अधिकार उपयोगिता एवं सुन्दरता मूल्य की सीमा में उपादेयी होता है। पांडित्य में जीवन मूल्य अथवा स्थापित मूल्यानुभव या प्रमाण क्षमता या अधिकार है। प्रमाणिकता स्वतः सुख, शांति, सन्तोष एवं आनन्द है। यही मन, वृति, चित्त, बुद्धि एवं आत्मा के संबंध में निर्विषमता है। प्रमाणिकता मनुष्य का अधिकार परम है। मानवीयता पूर्ण पद्धति से आचरण व व्यवहार करने

के लिये मनुष्य स्वतंत्र है। मनुष्य का मानवीयता पर स्वत्व होता है। स्वत्व, स्वतंत्रता एवं अधिकार का संयुक्त प्रकाशन संस्कृति, सभ्यता एवं राष्ट्रीयता है। जिसका विधि में चरितार्थ होना ही व जनवादिता एवं व्यवस्था में प्रभावशील होना ही क्रान्तिकारिता है। विकास की ओर जीवन की अबाधगति स्वतः क्रान्तिकारिता एवं जनवादिता तथा जन्म की अभयता स्वयं में जनवादिता एवं उत्पादनीयता है। यही राष्ट्रीयता की निरन्तरता है।

2. प्राचीन ज्ञान–विज्ञान मध्यस्थ दर्शन, सह–अस्तित्ववाद व जीवन विद्या

आज हम हर एक पहलुओं में पराभव की ओर जा रहे हैं। हम आज जितने सामर्थ्यशाली हैं कल और कम, आज जितने सामाजिक हैं, कल असामाजिक, आज जितनी व्यवस्था है कल और कम व्यवस्था में पाते हैं। आज से कल बदतर की ओर ही चल रहे हैं, अर्थात् यह कहें तो ठीक होगा की मानव सामाजिक रूप में असामाजिक, आर्थिक रूप में विपन्न एवं राजनैतिक स्थिति में अंधकार में चलते चला जा रहा है। राजनैतिक विफलता को द्रोह, विद्रोह, शोषण और युद्ध के रूप में हम देख पाते हैं। सामाजिक रूप में जो हम देखते हैं वह अनेक जाति, पन्थ और सामाजिक चेतना कट्टरता की तरफ जा रही है। आर्थिक रूप से आज किसी एक को दो के साथ लाने का प्रयास करते हैं तो कल उसे 10 और 2 के अनुपात में पाते हैं। 10 और 2 को एक साथ लाने का प्रयत्न करते हैं तो 100 और दस के अनुपात में हो गया। और आगे बढ़े तो असमानता ही बढ़ी। इसके कारण में पाया गया कि व्यापार चेतना और नौकरी की चेतना मनुष्य को आर्थिक असमानता की ओर दौड़ा रहा है। अनेक जाति, पंथ, सम्प्रदाय मनुष्य को कट्टरता की ओर दौड़ा रहा है। जिससे दिन प्रतिदिन मनुष्य जाति, भय व भ्रांति की ओर जा रहा है।

मेरा मूल उद्देश्य दर्शन को प्रस्तुत करना नहीं था, हमारा देश आज़ाद हुआ, सत्ता हस्तांतरित हुई। सत्ता पर अपने जन बैठे। जन प्रतिनिधि बने। हमारा संविधान राष्ट्र चरित्र क्या है? इसे स्पष्ट नहीं कर पाया, इस मूल तत्व से मुझे चोट लगी, जिज्ञासा जागृत हुई, यह जानने व समझने की कि राष्ट्रीय चरित्र क्या है? अस्तित्व कैसा है? अस्तित्व में मानव कैसा है? मनुष्येत्तर प्रकृति कैसी है? व्यवहार में देखने लगा, एवं जब वाङ्मय रूप देने लगा तो वह मध्यस्थ–दर्शन बन गया, सह–अस्तित्ववाद हो गया। योजना बनने लगी। मेरी संवेदनशीलता कहिए या अनन्त की कृपा कहिए, किसी योग या संयोग से ही किसी तीसरी वस्तु का जन्म होता ही है। अनंत से हमारा संबंध है ही, इसे बाद में कहूंगा| भारतीय संविधान में राष्ट्रीय चरित्र पहचाना जा सकता है, यह विश्वास उत्पन्न हुआ। एक भाग संक्षिप्त रूप में पूरा हुआ।

दूसरा भाग –

मनुष्य अभी तक दो प्रकार से घूमा – प्रथम तो ईश्वर को बीच में लाया। रहस्यमूलक ईश्वरीय चिंतनज्ञान को हम ज्ञान मानते आये, इसके आधार पर मनुष्य ईश्वर से सब कुछ होने की बात को माना, फलस्वरूप ईश्वर को केन्द्र मान कर हर बातों में हम सत्य को खोजने लगे। इसके लिये अनेकानेक विभूतियां अपने को प्रयोग किये, अर्पित किये, एवं ख्याति भी पाये, जिन्हें हम आदर्श पुरुष मानते हैं। इससे दो प्रकार का चरित्र का जन्म हुआ (जिन्हें आप भी श्रेष्ठ मानते हैं (1) भक्तिवादी चरित्र (2) विरक्तिवादी चरित्र। ये दोनों ही चरित्र शिक्षा एवं व्यवस्था का आधार या सूत्र नहीं बन पाये। फलस्वरूप ये व्यक्ति के सीमा में ही रह गया या व्यक्ति को जितना भी संसार, लोक, स्वयं श्रेष्ठ माना, इससे कहीं–कहीं तृप्ति मिलती रही। सर्वाधिक प्रयासों के बाद जिन महापुरुषों को हम पहचाने, समझे या माने उनसे हमें शिक्षा और व्यवस्था का कोई सूत्र नहीं मिला, और राष्ट्रीय चरित्र नहीं बन पाया।

मानव अपने–अपने ढंग से प्रयास करता ही रहा, कोई न कोई पंथ, मत, संप्रदाय, जाति भाषा, अपनी श्रेष्ठतानुसार किसी न किसी परम्परा को अपनाये और एक दूसरे के साथ टकराने की जगह में आ गये। टकराने की जगह में रहा विज्ञान, ये इसी को घटा दिया। सभी अपनी–अपनी जगह जीते रहे, शांति पूर्वक भी अशान्ति पूर्वक भी। एक समुदाय दूसरे समुदाय से जब–जब मिला है या संबंध स्थापित करने गया है तो टकराहट ही मिली है। ये सब घटनायें किसी न किसी रूप में इतिहास में प्रकारान्तर से रखा ही है। इसके बाद जब हम दूसरी विधि से पहुँचे तो वस्तु को बीच में लाये, जिसे विज्ञान युग कहा जा सकता है। जिसमें वस्तु को बीच में रख कर मनुष्य को चारों ओर घुमाया गया।

हम आवश्यकता से सुविधा, सुविधा से भोग, भोग से अति–भोग व बहु–भोग की ओर चल दिये। यह भी सर्वविदित है कि भोग, अति–भोग व बहु–भोग व्यक्तिवादी होते हैं। यह समाज हो नहीं सकता, न समुदाय हो सकता है जब समुदाय ही नहीं तो समाज कहाँ से होगा। ये सारी बातें स्पष्ट रूप में व प्रमाण रूप में सम्मुख रखा हुआ है ही।

अब इन दोनों को मिलाकर या किसी एक को सर्वाधिक ले कर शिक्षा में सम्मिलित कर लिया। अभी शिक्षा में जो सर्वाधिक सम्मिलित है वह है वस्तु केंद्रित ज्ञान। ईश्वर केन्द्रित ज्ञान बहुत न्यूनतम हो चुका है। इस अवस्था में आकर मनुष्य दिग्भ्रमित, दिशाहीन एवं अनिश्चयता से कुंठित पाया जा रहा है।

इन सबको देखने के बाद मैं जो लाया वह है अस्तित्व मूलक मानव केन्द्रित चिंतन ज्ञान– इसके अनुसार जीवन अपने आप में स्पष्ट होती है। जीवन जब स्पष्ट हो सकता है तो मनुष्य, जीव, वनस्पति व खनिज भी स्पष्ट हो ही सकता है। खनिज संसार की अपनी ही प्रतिष्ठा है। खनिज और वनस्पति एक आवर्तनशील पद्धति से अपने को वैभवित किये हुये हैं। इसी भांति मनुष्य का अन्य प्रकृति के साथ आवर्तनशील पद्धति वैभवित होना एक सहज क्रिया है।

इस ढंग से मनुष्य जीवन और शरीर का संयुक्त साकार रूप में इस धरती पर वैभवित हुआ।

वर्तमान की शिक्षा में शरीर को ही अध्ययन करने का प्रयास किया है फलस्वरूप मनुष्य शरीर को जीवन समझने लगा, शरीर को जीवन समझने से पराभव ही हाथ आया। जीवन क्या है? स्पष्ट करने को ही जीवन–विद्या कहा गया है।

1. रहस्य मूलक ईश्वर केन्द्रित चिंतन ज्ञान
2. अनिश्चयता व अस्थिरता वस्तु केन्द्रित चिंतन ज्ञान

अस्तित्वमूलक मानव–केन्द्रित चिंतन ज्ञान मध्यस्थ दर्शन सह–अस्तित्ववाद इसमें से निःसृत जीवन ज्ञान सहज रुप में मिलता है।

रहस्यमूलक ईश्वर–केन्द्रित ज्ञान और अनिश्चितता अस्थिरतामूलक वस्तु–केन्द्रित चिंतन ज्ञान शिक्षा और व्यवस्था का आधार नहीं हो सकता। इन दोनों को मिलाकर, घटाकर, काटकर या जोड़कर शिक्षा और व्यवस्था का आधार नहीं बनाया जा सकता। किसी गति को आगे बढ़ाना है तो पीछे की गति को ध्यान में रखना ही पड़ेगा, अन्यथा आगे की गति नहीं हो पाती।

एक बात पर विचार करें कि रहस्य की पृष्ठ–भूमि पर हम जो कुछ भी कहेंगे उसके मूल में यदि रहस्य ही है तो क्या स्पष्ट होगा? शिक्षा की वस्तु क्या होगी? शिक्षा का वस्तु, विश्लेषण और प्रयोजन क्या है? बिना इन दोनों के शिक्षा का कोई अर्थ नहीं है। किसी भी वस्तु का आधार जब रहस्य हो जाता है तो उस वस्तु से या रहस्य से कोई हम वाद–विवाद विहीन सूत्र नहीं पा सकते। चूंकि प्रत्येक व्यक्ति में कल्पनाशीलता और चिंतन–शीलता सहज वर्तमान है, यदि मैं रहस्य और कल्पनाशीलता से कुछ सूत्र निकालता हूँ तो आप दूसरा सूत्र निकाल देंगे, तो विवाद होगा ही। वाद–विवाद का परिणाम हम विगत में भुगत चुके हैं। मेरा निर्णय, अनुभव व ज्ञान यही कहता है कि मनुष्य शिक्षा अथवा व्यवस्था अथवा आचरण अथवा व्यवहार अथवा व्यवसाय के आधार पर जो भी सूत्र निकालेगा वह अस्तित्व के आधार पर होगा। अस्तित्व में जो है नहीं उसका कोई आधार नहीं है। उसका कोई सूत्र भी नहीं है।

3. सही बात को समझना

(*यह लेख नागराजजी के कथन का श्रोता द्वारा प्रतिलेखन है)

मनुष्य को हमेशा सही बात को समझनी चाहिए। ऐसे चाहत सर्वमानव में विद्यमान है।अगर वह गलत समझेगा तो वह हर मोड़ पर अथवा हर स्थिति पर गलती ही करेगा। जिस तरह एक गणित जब तक सही बात नहीं समझ लेता अथवा अंकित करने का सही तरीका नहीं अपना ले, वह हर अंक गलत ही करेगा। गलत तरीके का उपयोग कर के कोई गणित किसी भी अंक का सही उत्तर नहीं निकाल सकता है।

परन्तु यह सिर्फ गणित का ही प्रश्न नहीं, किसी भी कलाकार, व्यापारी, वकील अथवा गुणी ब्राह्मण के लिये भी यही सिद्धांत लागू होता है। हर मनुष्य एवं व्यक्ति के लिए यह लागू होता है। इस सिद्धांत के लिये कोई नियमित आयु सीमा भी नहीं। चार वर्ष का बालक भी यदि सही तरह से शब्दों का उच्चारण करना नहीं जानता है तो वह उस भाषा की बोली सीख ही नहीं सकता। इस तरह यदि कोई साधु या तपस्वी अपने आप को सही तरह से पूजा-पाठ में लीन नहीं कर सकता वह कभी ईश्वर को प्राप्त कर ही नहीं सकता।

मेरे अनुसार सिर्फ मनुष्य तक ही इस सिद्धांत को नियमित नहीं किया जा सकता। क्या कोई शेर जंगल का राजा होते हुए भी अन्य जानवरों का शिकार कर सकता है यदि वह ऐसा करने का सही तरीका नहीं जानता हो ? अतः सिर्फ मनुष्य ही नहीं हर तरह के पशु-पक्षी, जन्तु-जानवर भी इस तरह के सिद्धांत को अपने साथ लेकर चलते हैं। एक पक्षी यदि अपना घोंसला नहीं बना सकता है तो वह ठण्ड एवं बरसात के मौसम में जी ही नहीं सकता।

एक और बात है। यदि कोई विद्यार्थी अपने पाठ का अध्ययन सही तरह से नहीं समझ लेता वह परीक्षा में पास हो ही नहीं सकता। परन्तु यदि वह एक बार सही पाठ अपने दिमाग अपने दिमाग में जड़ से बैठा ले तो उसका फेल होना असम्भव है। अथवा जीवन में इस बात की यह महता है कि जब तक व्यक्ति सही चीज नहीं जान लेता , वह गलती करता ही रहेगा। जब तक कि उसके मन में सही बात नहीं आ जाती। अतः हर काम करने के लिए ऐसा करने का सही तरीका जानना महत्वपूर्ण ही नहीं आवश्यक है, जरूरी है।

सही की पहचान

सही चीज को पहचानना भी आवश्यक है। दो और दो चार होता है। तीन और एक भी चार होता है। यदि यह दोनों अंक आपस में जोड़े जाएं तो चार के अलावा और कुछ परिणाम नहीं मिल सकता। इनके अलावा और कोई अंक जोड़कर भी हम सही अंक प्राप्त नहीं कर सकते। यानी "चार (सही) प्राप्त करने के लिये सिर्फ दो ही Formulae सही हैं। एक-तीन और दो-दो। यह ठीक formulae हैं अर्थात् यह हमेशा सही यानी चार (४) ही देंगे। यह मनुष्य के जीवन में भी जरूरी बात है न केवल गणितज्ञ के विषय। अर्थात् सही बात को पहचानना अथवा उसे अपने जीवन में प्रयोग करना जरूरी है ।

सुख के लिए केवल सुविधा पर्याप्त नहीं

मनुष्य को अपने पेट भरने के लिये रोजी कमानी पड़ती है। इस कारण वह व्यापार करता है या किसी के यहाँ नौकरी करता है। ऐसा करने से मनुष्य को जो दौलत प्राप्त होता है उसे वह इकट्ठा करता है। उसका संग्रह करता है। वह ऐसा इसलिये करता है ताकि वह इस कमाये गये दौलत का उपयोग कर सके। उपयोग भी उस तरह करें जिससे हम सुविधायें पा सकें। सुविधाओं के माध्यम से हमें सुख का कामना का होना स्पष्ट अनुभव होता है। मगर क्या मनुष्य इन सुविधाओं से सुख का अनुभव चिर-काल के लिये कर सकता है? निरंतर?

यदि एक व्यक्ति दस कमा लेता है तो उसे बीस कमाने की इच्छा होती है। जब वह बीस कमा लेता है तो सौ कमाने की इच्छा होती है।जब हजार कमा लेता है तो लाखों की और जब करोड़ कमा लेता है तो अरबों कमाने को उसका जी करता है। अतः मनुष्य की कामनाओं की कोई सीमा नहीं होती। संग्रह करके सुविधा उपलब्ध कर पाने की तृप्ती कभी उसे होती ही नहीं। अथवा मनुष्य कभी सुखी हो ही नहीं सकता।

स्वयं में विश्वास

मनुष्य एक तरह का जीव होता है, प्राणी होता है। लड़का.. लड़की... इनमें केवल शरीर ही नहीं और भी कुछ होता है। जैसे शरीर है शरीर के अनेक अंश हैं। ऐसा कहा जाता है कि दिमाग "memory" का "store house" है। सर्जरी से पता चलता है कि समस्त "brain" में ऐसी कोई जगह नहीं जहाँ ज्ञान या बुद्धि "store" किया जा सके।

तो प्रश्न यह उठता है कि दिमाग काम कैसे करता है? अर्थात् "Storage" कहाँ होता है? अगर यही जीवन है, प्राण है तो यह चीज क्या है? यह परमाणु है। परमाणु का मतलब होता है "atom" "A constitutionally Saturated atom" is जीवन या प्राण कोश। यह प्राण कोश सप्राणित भी हो सकता है अथवा निष्प्राणित भी। जो प्राण कोश साँस ले रहे होते हैं उन्हें सप्राणित कहते हैं। जो प्राण कोश सांस नहीं ले सकते हैं अथवा मृत हो जाते हैं उन्हें निष्प्राणित प्राण कोश कहा जाता है।

अर्थात् वह यह जीवन ही है जो सोचने का काम करता है और जिसके हमारे शरीर को छोड़कर चले जाने से कोई हमारे निर्जीव शरीर को आश्रय भी नहीं देता। इस कारण जीवन बहुत ही महत्त्वपूर्ण है और हमारे लिए इसे पहचानना भी अतिआवश्यक है ।

श्रेष्ठता का सम्मान

हम जिस समाज में रहते हैं उसमें अनेक प्रकार के लोग हमारे साथ निवास करते हैं। इनमें से कुछ लोग ज्ञान के क्षेत्र में हम से ज्यादा ज्ञानार्जन कर चुके होते हैं। ऐसे लोगों के प्रति जिनका ज्ञान हमारे से ज्यादा होता है उनके प्रति हमारे मन में सम्मान उत्पन्न होते हैं एवं हम उनका सम्मान करते हैं।

परन्तु ऐसे लोगों की पहचान कैसे की जा सकती है? यदि कोई आदमी अपनी डिग्रियों के बारे में बताये और प्रमाण दें तो क्या इस विचार से हम उन व्यक्तियों का सम्मान करना प्रारम्भ करते हैं? नहीं। किसी के ज्ञान का अंदाजा लगाना अथवा इस कारण पर उनका सम्मान कर पाने के लिए उनके साथ जीना अतिआवश्यक है। ताकि हम उनकी महानता को पहचान सकें। इस कारण हम व्यवस्था में रहते हैं। व्यवस्थायें कई प्रकार के होते है: परिवार व्यवस्था, ग्राम

व्यवस्था, जिला व्यवस्था, प्रदेश व्यवस्था एवं देश व्यवस्था। सब से छोटा है परिवार व्यवस्था। परिवार व्यवस्था में हम अपने माता-पिता, भाई-बहन के साथ रहते हैं। इस से हम तीन चीज सीखते हैं :

1. आहार (खाद्य).
2. व्यवहार (बर्ताव)
3. विहार

इसका मतलब है एक दूसरे के प्रति मनोभाव | परिवार में रहते हुए हम एक दूसरे के साथ खेलते हैं, हँसते हैं, रोते हैं, बातें करते हैं तो एक दूसरे के प्रति अपने मनोभाव प्रकट करते हैं। भविष्य में इसी से सम्मान बन आता है।

परन्तु हमें सिर्फ परिवार व्यवस्था तक ही सीमित नही रहना चाहिये। हमें ग्राम, जिला एवं देश के स्तर पर भी विकास की जो योजनाएँ बनाई जा रही हैं उसमें अपना पूरा योगदान देना चाहिये। इस तरह व्यवस्था में रहने से हमारी प्रतिभा और व्यक्तित्व दोनों ही फूलते-फलते हैं।

आहार

हर जीव का अपना एक निश्चित आहार होता है। जैसे झाड़-पत्तों के, गाय के लिए घास-फूँस, शेर-बाघ जैसे मांसाहारी जानवरों के लिये अन्य छोटे जानवरों की हत्या की जाती है।

मनुष्य ने विज्ञान के विषय में बहुत प्रगति किया है, विकासशील हुए हैं। अपने देश को उन्नति के मोड़ पर चढ़ाया है। परन्तु अपना आहार अभी तक कोई decide नहीं कर पाए हैं। कोई शाकाहारी है तो कोई मांसाहारी।

तो यह देखना चाहिये कि मनुष्य/मानव की शरीर रचना कैसी है? इसके लिये पहले हमें मांसाहारी एवं शाकाहारी जानवरों के बीच में अन्तरों का अध्ययन कर लेना चाहिये। मांसाहारी जीवों के दाँत एवं नाखून लम्बे और नुकीले होते हैं ताकि वे मांस को तान-काट सके।

शाकाहारी जीवों के दाँत - नाखून ऐसे नहीं होते। मांसाहारी जीव हमेशा जीभ से पानी पीते हैं (e.g. कुत्ता)। शाकाहारी जीव होठों से पानी पीते हैं। मांसाहारी जीवों के आंत छोटी होती है, शाकाहारी जीवों की आंत बड़ी होती है।

अध्ययन किये जाने पर समझा गया है कि मनुष्य में सारे शाकाहरी गुण हैं जहां तक शरीर रचना का सवाल है। मनुष्य के दाँत नाखून लम्बे नहीं होते, आंत बड़ी होती है और वह होठ से पानी पीते हैं। इस कारण साधारणतः मनुष्य को शाकाहरी होना चाहिए। परन्तु मनुष्य अभी तक इसका निर्णय नहीं कर पाया है।

वैसे देखा जाये तो मनुष्य जितना भी अपने आप को अहिंसा के पथ पर कहे, मांसाहारी मनुष्य हिंसा करता है क्योंकि उसके भोजन के लिये अन्य जीवों की हत्या की जाती है। अतः मांसाहारी मनुष्य हिंसा का द्योतक है ।

व्यवहार

परिवार व्यवस्था में रहने के साथ-साथ हम एक दूसरे के भावों और व्यक्तित्वों को समझते हैं और उनसे जैसे बर्ताव एवं व्यवहार करते हैं। हम सब एक साथ त्यौहार मनाते हैं और एक दूसरे को वस्तुएँ आदि समर्पण एवं अर्पण करते हैं। समर्पण और अर्पण में अंतर होता है। समर्पण करना उस भेंट को कहते हैं जो हम वापस नहीं चाहते। जो हम एक साथ मनाये गये पर्व, त्यौहार में करते हैं। समर्पण करने के भाव भी शुद्ध एवं स्पष्ट होने चाहिये। सिर्फ देने का एक नियम इसलिये नहीं। बल्कि पूरे दिल से देना चाहिये।

मानव

1. मानव जीवन एवं जीवनी–क्रम

मनुष्य का जीवन मानवीयता की सीमा जीवनमूलक पद्धति से आरंभ होता है, चिंतन–समुच्चय भौतिक विचारधारा पर आधारित हो या आध्यात्मिक विचारधारा पर, इस बात को स्पष्ट करने में उत्साह यह प्रकट होता है कि मानव में एक मानवीयता की निश्चित, स्पष्ट एवं अपरिहार्य सीमा को उभारने हेतु सभी सुहृद एवं आप्त पुरुषों का साम्य प्रयास पाया जाता है। इस विषय में उनके द्वारा किया गया यह अथक प्रयास इतिहास के अवलोकन में भी सिद्ध होता है। अब तक उसे प्राप्त करने में हम असमर्थ रहे हैं, फिर भी पाने के लिए प्रत्याशी एवं प्रयासोन्मुख हैं। इस मौलिक बिंदु के संदर्भ में शिक्षा प्रदान करने के लिए मध्यस्थ दर्शन अपने में परिपूर्ण होकर लोक सम्मुख उपस्थित हुआ है, जो 4 भागों में प्रणीत है : यथा

1. मानव व्यवहार दर्शन
2. मानव कर्म दर्शन
3. मानव अभ्यास दर्शन
4. मानव अनुभव दर्शन।

मध्यस्थ दर्शन समग्रता, विकास व व्यवहार के प्रति किसी रहस्य द्वंद्व संघर्ष चेतना को मनुष्य के अविकसित चेतना निरूपित करता है साथ ही मानव को गुणात्मक विकास क्रम में मानवीयता पूर्ण संचेतना में संक्रमित होने का निश्चित पद्धति को सुलभ किया है। द्वंद्व को अनुभव व्यव्हार में व समाधान में अध्ययन संस्कार सुलभ करने का पाठ और किसी रहस्य को रहने नहीं देता और साथ ही समग्र के संबंध में यह बताता है कि सत्ता व्यापक है तथा इसमें ही समग्र प्रकृति समाई हुई है, फलतः प्रकृति ऊर्जामय है।

इसलिए प्रकृति प्रत्येक स्तर में क्रियाशील सिद्ध हुई है, चाहे वह बड़े से बड़े गृह गोलादि हो अथवा छोटे से छोटा अणु परमाणु या अंश ही क्यों ना हो। यही वस्तुगत सत्य है। इस सत्यता से चेतना से पदार्थ या पदार्थ से चेतना को निष्पन्न कराने का कष्ट दूर हो गया है। मध्यस्थ दर्शन प्रकृति को जड़ और चैतन्य दो भागों में स्पष्ट करता है। जड़ प्रकृति पदार्थावस्था एवं प्राणावस्था में तथा चैतन्य प्रकृति जीवावस्था एवं ज्ञानावस्था में दृष्टव्य है। ज्ञानावस्था के मनुष्य को परिभाषित करते हुए मानव जनजाति को आत्मनिरीक्षण करने के लिए बाध्य किया गया है। "मनाकार को साकार करने एवं मनः स्वस्थता के आशावादी" को मानव संज्ञा दी गई है। हम देखते हैं कि प्रत्येक मनुष्य अपनी आशा, इच्छा एवं विचारानुरूप ही प्राकृतिक ऐश्वर्य पर उपयोगिता एवं कला की प्रस्थापना करता है। यही मनाकार को साकार करने का तात्पर्य है। प्रत्येक मनुष्य सुखी होना चाहता है, सुख, शांति, संतोष एवं आनंदित होना चाहता है, जो निर्विवाद सत्य है। यही मनः स्वस्थता के आशावादी का अर्थ है।

इस प्रकार मनाकार को साकार करता हुआ, मनः स्वस्थता का आशावादी ओतप्रोत मानव जाति को असंदिग्ध रूप में देखा जा रहा है| इसमें मार्मिक बिंदु यही है की उपरोक्त विवेचन के अभाववश न्याय का ध्रुवीकरण आज तक नहीं हो पाया।

मध्यस्थ दर्शन ने न्याय कि ध्रुवीकरण में यह घोषणा की है, की मानवीयता की अभिव्यक्ति जो शिष्टता के रूप में प्रकाशित होता है जिसके निर्वाह मानवीय सम्बन्ध मूल्यों पर आधारित है। नीति से समाज में, विश्व में शान्ति तथा अंतर्राष्ट्रीय में सामंजस्य संभव बनाया जा सकता है। इस स्थिति में मध्यस्थ दर्शन एक मार्गदर्शक के रूप में उपलब्ध है। यह उपलब्धि मानव में पाई जाने वाली चिरकालीन वांछा, आकांक्षा एवं पूर्ण तृषा की पूर्ति के लिए परिपूर्ण एवं परिहार्य है।

मध्यस्थ दर्शन में प्रकृति में पाई जाने वाले क्रिया एवं जीवन के संबंध में पदार्थावस्था को अस्तित्व सहित संघर्षात्मक जीवन तथा प्राणावस्था को अस्तित्व संघर्ष सहित पुष्टयात्मक प्रक्रिया में रत जीवन बताया है। जीवन मात्र को आशावादी जीवन के स्वरूप में स्पष्ट करते हुए उसकी सत्यता को जीवन की आशा से सम्पन्न बताया है। मनुष्य को बुद्धिजीवी बताते हुए बौद्धिकता की सत्यता को दो परिप्रेक्ष्यों में स्पष्ट किया गया है– 1) विज्ञान और 2) विवेक। मध्यस्थ दर्शन ने बौद्धिकता की परिपूर्णता को विवेक और विज्ञान की सीमा में निपुणता, कुशलता एवं पाण्डित्य के समग्रता को बताया है, और साथ ही यह भी स्पष्ट किया है कि विवेक के बिना विज्ञान, विज्ञान के बिना विवेक जीवन की अपूर्णता के द्योतक हैं। मानव की बौद्धिकता को पूर्णतया चैतन्य पक्ष की क्षमता, योग्यता एवं पात्रता बताते हुए प्रमाणों सहित यह बताया गया है कि रासायनिक सीमा के अतिरिक्त यह सीमा गठन की पूर्णता के अनंतर विकासपूर्वक पाई गई एक अर्हता है। इससे स्पष्ट हो जाता है की मनुष्य बुद्धिजीवी है, ना कि रासायनिक। इस स्पष्ट तथ्य को सर्व सुलभ करने की व्यवस्था मध्यस्थ दर्शन ने कर दी है।

मानव जीवनीक्रम के संदर्भ में मध्यस्थ दर्शन ने इस वस्तुगत सत्यता को उद्घाटित किया है कि मनुष्य के जितने भी संबंध एवं संपर्क हैं, उन सभी की परस्परता में स्थापित मूल्य हैं, जो स्थिति है। उसका यह उद्घोष राजनैतिक एवं धर्म नैतिक पक्षों एवं पक्षधरों का ध्यान आकर्षित करता है और मानवीयता की सीमा में "मानव जाति एक, कर्म अनेक" की सुदृढ़ स्थिति को पाने की संभावना प्रकट करता है एवं उसके लिए आवश्यकीय परिपूर्ण शिक्षा प्रदान करता है। मनुष्य में पाएजाने वाले चारों आयाम तथा मनुष्य की पाँचों स्थितियाँ (व्यक्ति, परिवार, समाज शासन एवं अंतर्राष्ट्र) के जीवनीक्रम में मध्यस्थ जीवनीक्रम की स्पष्टता को उद्घाटित करता है।

अब तक हम मनुष्य की परस्परता में स्थापित मूल्यों और उसकी स्थिरता के संबंध में एक रहस्यता अथवा वैविध्यता को अनिवार्य या अपरिहार्य सम्म समझते आये हैं, जिसका स्पष्ट प्रमाण यह है कि मानव जन अनेक जातियों में विघटित पाए जा रहे हैं, फलतः हम युद्धोन्मुखी हो गए हैं। यही कारण है कि प्रत्येक राष्ट्र एवं देश युद्ध शक्ति का संचय करने में विवश हो गया है। इसका मूल कारण मनुष्य के परस्पर संबंधों में निहित स्थापित मूल्यों की अशिष्टता ही है। सुदूर विगत के अथक प्रयासों की यह असफलता स्वयं में स्पष्ट है, जो अनेक खंडों में बंटी हुई है। इससे मुक्ति पाने के हेतु मध्यस्थ दर्शन सप्रमाण घोषणा करता है कि "मानव जाति एक कर्म अनेक", "मानव धर्म एक मत अनेक", "भूमि एक राष्ट्र अनेक" तथा "ईश्वर एक देवता अनेक" है। इन मूल अवधारणाओं के सुदृढ़ आधार पर ही मानव अपने